अध्याय ६

यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते

सामान्य गृहस्थों के नित्य यज्ञ

अभी तक हमने राजाओं एवं तपस्वियों के महान् यज्ञों का वर्णन किया है। राजाओं और तपस्वियों की भारतीय समाज संरचना में निश्चय ही महती भूमिका है। परन्तु सामाजिक जीवन की रीढ तो सामान्य गृहस्थों से ही बनती है। वही दिन प्रतिदिन की सहज समाजचर्या का वहन करते हैं। उनके हाथों से हुए नित्यप्रति के अन्नदान से ही पृथिवी के सभी जीवों का निर्वाह होता है।

भारत में गृहस्थ के लिये प्रतिदिन भोजन ग्रहण करने से पूर्व सृष्टि के सब भावों के निमित्त समुचित भाग निकालने का वृहद् अनुशासन निश्चित किया गया है। श्रुति-स्मृति में वर्णित सामान्य गृहस्थ के इस नित्य यज्ञ में महान् राजाओं के यज्ञों-सी भव्यता और तपस्वियों के यज्ञों-सा प्रचण्ड तेज तो नहीं हुआ करता। परन्तु उनके किञ्चित् अन्नदान की नियमबद्ध निरन्तरता में अपनी ही एक भव्यता है, अपना ही एक तेज दिखायी देता है। परम्परागत भारतीय सामाजिक जीवन में अन्नदान का जो विशिष्ट महत्त्व है उसके मूल में सामान्य गृहस्थों के ये नित्य यज्ञ ही हैं। इन नित्य यज्ञों के कर्ता होने से ही भारतीय दृष्टि में अनुशासित गृहस्थ का स्थान समाज के अन्य सब घटकों की अपेक्षा ऊँचा हो जाता है। अपने लिये निश्चित नित्य अन्नदान का अनुशासन निभाते हुए सामान्य भारतीय गृहस्थ महान् राजाओं और प्रचण्ड तपस्वियों की समानता करने के योग्य हो जाता है।

गृहस्थाश्रमः उमा शङ्कर संवाद

अनुशासित मानव जीवन के चार आश्रमों में गृहस्थाश्रम सर्वोपरि कहा गया है। श्रुति एवं स्मृति में गृहस्थाश्रम की विशिष्ट महत्ता का वर्णन अनेक बार हुआ है। महाभारत के अनुशासन पर्व में एक स्थान पर भीष्म पितामह भगवती उमा एवं भगवान् शङ्कर के मध्य हुए धर्मविषयक दिव्य

संवाद का स्मरण कर युधिष्ठिर को गृहस्थाश्रम की अद्वितीय गरिमा का पाठ पढ़ाते हैं। भीष्म पितामह के मुख से वर्णित इस कथा के अनुसार एकदा स्वयं श्रीकृष्ण बारह वर्ष तक चलने वाले व्रत की दीक्षा ले भीषण तपस्या में लीन हो जाते हैं। तब एक दिन नारद, पर्वत, धौम्य, देवल, काश्यप और श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास सहित अनेक दिव्य महर्षि तपस्वी श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिये उनके पास आ बैठते हैं। इस प्रकार एकत्रित महर्षियों का समुचित स्वागत-सत्कार करने के उपरान्त श्रीकृष्ण उनके साथ धर्म-चर्चा करने लगते हैं। इस चर्चा के मध्य श्रीकृष्ण अपने पास बैठे महर्षियों को अपने वैष्णव तेज का किञ्चित् परिचय देते हैं और तदुपरान्त उनसे आग्रह करते हैं कि वे अपनी देखी-सुनी कोई अद्भुत घटना उन्हें सुनायें। तब महर्षियों की ओर से नारदमुनि पूर्वकाल में हिमालय पर्वत पर उमा एवं शङ्कर के बीच हुए दिव्य संवाद का आख्यान करने लगते हैं।

पूर्वकाल की उस घटना का वर्णन प्रारम्भ करते हुए नारदमुनि कहते हैं कि उस समय उमा एवं शङ्कर हिमालय पर्वत पर सुखी गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनकी उपस्थिति में सम्पूर्ण पर्वत क्षेत्र सुन्दर पुष्पों, प्रमुदित पक्षियों एवं दिव्य औषधियों से सम्पन्न हो अद्भुत शोभा पा रहा था। तब एक दिन गिरिराजनन्दिनी उमा हिमालय से निकलने वाली समस्त कलकलाती नदियों को अपने साथ लिये, फूलों की वर्षा करती हुईं और अनेक प्रकार की सुगन्ध बिखेरती हुईं भगवान् शङ्कर के पार्श्व में आ खड़ी हुईं। सहसा खेल-खेल में ही उमा ने शङ्कर के दोनों नेत्रों को अपने हाथों से ढक लिया। भगवान् शङ्कर के नेत्रों के आवृत होते ही सारा जगत् होम एवं यज्ञ से रहित हो चेतनाशून्य-सा हो गया। सर्वत्र अन्धकार छा गया। तब शीघ्र ही शङ्कर ने अपना तीसरा नेत्र खोलकर सारे विश्व को अपनी उस तृतीय दृष्टि के तेज से प्रकाशित कर दिया।

परन्तु हिमालय शङ्कर के उस तीसरे नेत्र के आदित्य समान तीक्ष्ण तेज को सहन नहीं कर पाये। सारा पर्वत प्रदेश आग की लपटों से धधक उठा। साल, सरल और चन्दन के भव्य वृक्ष उस दावानल में जलकर भस्म होने लगे और भयभीत मृगों के झुण्ड भाग-भाग कर भगवान् शङ्कर के समीप शरण लेने लगे। लताएँ और औषधियाँ जलकर नष्ट हो गयीं। द्वितीय प्रलयाग्नि समान उस ज्वाला से धातुओं से भरे विशाल पर्वत शिखर ही प्रज्वलित हो उठे।

हिमालय पर्वत को इस प्रकार त्रस्त होता देख शैलसुता उमा करुणा से भर उठीं। उन्होंने तुरन्त भगवान् शङ्कर के दोनों नेत्रों को अनावृत कर दिया और हाथ जोड़कर उनके सम्मुख आ खड़ी हुईं। उमा के इस मृदु रूप को देख शङ्कर पुनः अपने मङ्गल रूप में स्थित हो गये। उन्होंने प्रसन्न दृष्टि से हिमालय की ओर देखा। भगवान् शङ्कर की मङ्गल दृष्टि पड़ते ही हिमालय अपने प्राकृतिक रूप में आ गये और समस्त जगत् मङ्गलमय हो उठा।

सामान्य गृहस्थों के नित्य यज्ञ

तब उमा भगवान् शङ्कर के चरणों में बैठकर स्वयं उनके विभिन्न रूपों और धर्म के विभिन्न पक्षों के विषय में अनेक प्रश्न पूछने लगीं। दिव्य दम्पती के मध्य चल रहे इस संवाद में एक स्थान पर उमा आश्रमधर्म के प्रति जिज्ञासा प्रकट करती हैं। तब भगवान् शङ्कर उमा के लिये आश्रम धर्म की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यही बताते हैं कि चारों आश्रमों में से गृहस्थाश्रम निश्चय ही श्रेष्ठ है – गृहस्थः प्रवरस्तेषां गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रितः।[१]

इस प्रकार गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का निर्देश करने के उपरान्त भगवान् शङ्कर चारों आश्रमों के धर्म का सङ्क्षिप्त विवेचन करते हैं। परन्तु उनका चित्त भगवती उमा को गृहस्थाश्रम की विशेषता का ज्ञान करवाने में ही रमा है। अतः कुल साढ़े छः श्लोकों में वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम धर्म का वर्णन कर वे पुनः गृहस्थाश्रम धर्म की विस्तृत व्याख्या करने लगते हैं।

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि गृहस्थाश्रम धर्म का सार सभी जीवों का पालन करने, सभी के निर्वाह का उत्तरदायित्व उठाने में ही है। गृहस्थाश्रम धर्म पर आचरण करते हुए मनुष्य अन्य मनुष्यों एवं सब प्रकार के जीवों का पालन करने और विशेषतः अतिथि की सेवा करने का अवसर पाता है। इसी में गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता है। जीव सृष्टि के निर्वाह का स्रोत होने से ही गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों से ऊँचा उठ जाता है, इतना ऊँचा कि स्वयं भगवान् शङ्कर कह उठते हैं कि वानप्रस्थाश्रम में सम्यक् स्थित हो श्रद्धापूर्वक किये गये कठिनतम तप से भी अनुशासनपूर्वक निभाये गये गृहस्थाश्रम धर्म की सोलहवीं कला की समानता नहीं हो पाती[२] –

सम्यक् तपश्चरन्तीह श्रद्दधाना वनाश्रमे।
गृहाश्रमस्य ते देवि कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

गृहस्थाश्रम के अनुशासन का विवेचन करते हुए भगवान् शङ्कर गृहस्थ के लिये अनुसरणीय व्रत-उपवास, शील, शौच और शिष्टाचार का उपदेश भी देते हैं। परन्तु गृहस्थाश्रम से होने वाले समस्त सृष्टि के जीवननिर्वाह का वर्णन वे निरन्तर करते जाते हैं। गृहस्थाश्रम के विषय में यही उनका मुख्य कथ्य है। भगवान् शङ्कर कहते हैं[३] –

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः॥

---

[१] महाभारत *अनुशासन* १४१, पृ.५९२२।
[२] महाभारत *अनुशासन* १४१, पृ.५९२३।
[३] महाभारत *अनुशासन* १४१, पृ.५९२४।

जैसे सभी जीव माँ के आश्रय में जीवन निर्वाह करते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रय में ही जी पाते हैं।

और आगे शङ्कर भगवान् कहते हैं –

राजानः सर्वपाषण्डाः सर्वे रङ्गोपजीविनः।
व्यालग्रहाश्च डम्भाश्च चोरा राजभटास्तथा।
सविद्याः सर्वशीलज्ञाः सर्वे वै विचिकित्सकाः।
दूराध्वानं प्रपन्नाश्च क्षीणपथ्योदना नराः।
एते चान्ये च बहवः तर्कयन्ति गृहाश्रमम्॥

राजा, पाखण्डी, रङ्गोपजीवी, सपेरे, ठग, चोर और राजपुरुष अपने निर्वाह के लिये गृहस्थ की ओर ही दृष्टि टिकाये रहते हैं। ऐसे ही सब प्रकार के विद्वान्, विचारक एवं शीलवान् जन भी गृहस्थ पर ही निर्भर करते हैं और इसी प्रकार दूर-दूर से चलकर आ रहे पाथेयरहित पथिक एवं अन्य बहुत-से लोग गृहस्थ का ही आश्रय ढूँढते हैं।

भगवान् आगे कहते हैं –

मार्जारा मूषिकाः श्वानः सूकराश्च शुकास्तथा।
कपोतका कर्कटकाः सरीसृपनिषेवणाः।
अरण्यवासिनश्चान्ये सङ्घा ये मृगपक्षिणाम्।
एवं बहुविधा देवि लोकेऽस्मिन् सचराचराः।
गृहे क्षेत्रे बिले चैव शतशोऽथ सहस्रशः।
गृहस्थेन कृतं कर्म सर्वैस्तैरिह भुज्यते॥

देवि उमा! मार्जार, मूषक, श्वान, सूकर, शुक, कपोत और कर्कटक आदि ग्राम्य जीव, विभिन्न प्रकार के सरीसृप, अरण्यवासी मृगों एवं पक्षियों के अनेक समुदाय, घरों, बिलों व खेतों में रहने वाले सैकड़ों-सहस्रों जीव और इस जगत् में उपस्थित अनन्त प्रकार के चराचर प्राणी, सब-के-सब गृहस्थ के कर्मों से अर्जित भोग्य का ही उपभोग करते हैं।

जिस गृहस्थाश्रय में किये गये कर्मों से इतनी विशाल प्राणसृष्टि का जीवन यापन होता है उसके समुचित निर्वाह का फल तो निश्चय ही महान् होगा। गृहस्थ के इस महान् फल का

प्रतिपादन करते हुए भगवान् शङ्कर भगवती उमा को बताते हैं –

उपयुक्तं च यत् तेषां मतिमान् नानुशोचति।
धर्म इत्येव संकल्प्य यस्तु तस्य फलं शृणु।
सर्वयज्ञप्रणीतस्य हयमेधेन यत् फलम्।
वर्षे स द्वादशे देवि फलेनैतेन युज्यते।।

जो मतिमान् अन्य जीवों के उपभोग में आयी किसी वस्तु के लिये शोक नहीं करता, जो अन्य जीवों के समुचित जीवन निर्वाह को अपना धर्म मानता है, ऐसे धर्मनिष्ठ गृहस्थ को प्राप्त होने वाले फल का वर्णन सुनो। हे देवि! इस प्रकार धर्मपूर्वक गृहस्थाश्रम का बारह वर्ष तक निर्वाह कर मनुष्य उसी फल का भागी होता है जो अन्य सभी यज्ञों का सम्पादन करने के उपरान्त अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले यजमान को प्राप्त होता है।

गृहस्थाश्रम की ऐसी महिमा है, और सम्पूर्ण जीवसृष्टि के निर्वाह के निमित्त किये जाने वाले गृहस्थों के नित्य यज्ञों का ऐसा प्रभाव हुआ करता है। भगवती उमा के साथ सुखी गृहस्थ जीवन यापन करते हुए भगवान् शङ्कर ने स्वयं गृहस्थाश्रम की इस महिमा और उसके महान् फल की व्यवस्था कर दी है।

गृहस्थों के पञ्चमहायज्ञ

पञ्चैव महायज्ञाः

अपने आसपास की जीवसृष्टि के जीवन निर्वाह का दायित्व निभाने के गृहस्थ के नित्य अनुशासन को श्रौत-स्मार्त साहित्य में पञ्चमहायज्ञ की संज्ञा दी गयी है। सब गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे नित्यप्रति बिना किसी व्यवधान के पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान करें। वास्तव में पञ्चमहायज्ञ का कर्ता होकर ही मनुष्य गृहस्थ कहलाने का अधिकारी होता है – जो पञ्चमहायज्ञ का नित्य सम्पादन नहीं करता उसे गृहस्थ के नाम से गौरवान्वित नहीं किया जा सकता। पञ्चमहायज्ञ के माध्यम से गृहस्थ स्वयं भोजन ग्रहण करने से पूर्व सृष्टि के समस्त भावों के निमित्त अंश निकालते हुए मानो सम्पूर्ण देव, पितर और जीव सृष्टि के प्रति अपने दायित्व का स्मरण करता है, और अपनी पहुँच के भीतर आने वाले समस्त जीवों के भरण-पोषण की व्यवस्था करने का सङ्कल्प करता है।

पञ्चैव महायज्ञाः

भारतीय दृष्टि में पञ्चमहायज्ञ अनुशासित मानव जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। श्रौत-स्मार्त साहित्य में पञ्चमहायज्ञ का वर्णन अनेक रूपों में अनेक स्थानों पर हुआ है। सनातन वेद, चिरन्तन इतिहास एवं पुराण और सब कालों के धर्मशास्त्र एवं अन्य स्मृतिग्रन्थ पञ्चमहायज्ञ के कर्म का विस्तृत प्रतिपादन एवं विधान करते हैं।

वैदिक संहिताओं में से शतपथ ब्राह्मण में हुआ पञ्चमहायज्ञ विषयक प्रतिपादन सम्भवतः सर्वाधिक सुस्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण का प्रमाणवाक्य है –

पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ ऽइति॥

अहरहर्भूतेभ्यो बलिꣳ हरेत्। तथैतं भूतयज्ञꣳ समाप्नोत्यहरहर्द्यादोद-पात्रात्तथैतं मनुष्ययज्ञꣳ समाप्नोत्यहरहः स्वधा कुर्य्यादोदपात्रात्तथैतं पितृयज्ञꣳ समाप्नोत्यहरहः स्वाहा कुर्य्यादा काष्ठात्तथैतं देवयज्ञꣳ समाप्नोति॥

अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः॥[४]

पाँच ही महायज्ञ हैं। यही महासत्र भी हैं। ये पाँच हैं – भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ।

दिन प्रति दिन भूतों के निमित्त बलि निकाली जाये। इससे भूतयज्ञ सम्पन्न होता है। दिन प्रति दिन अन्न का पात्र रिक्त होने तक मनुष्यों को भोजन दिया जाये, इस प्रकार मनुष्ययज्ञ सम्पन्न होता है। दिन प्रति दिन अन्न का पात्र रिक्त होने तक पितरों के निमित्त अन्नदान किया जाये, इससे पितृयज्ञ सम्पन्न होता है। दिन प्रति दिन काष्ठ के समाप्त होने तक देवों के निमित्त होम किया जाये, इससे देवयज्ञ सम्पन्न होता है।

अब ब्रह्मयज्ञ का वर्णन आरम्भ होता है। स्वाध्याय, अपने लिये निश्चित ज्ञान परम्परा के अनुरूप अनुशासित एवं श्रद्धापूर्वक अध्ययन ही, ब्रह्मयज्ञ है।

विजयनगर काल के सुविख्यात एवं श्रद्धेय वेद व्याख्याकार श्रीसायणाचार्य शतपथ ब्राह्मण के प्रमाणवाक्यों पर टीका करते हुए कहते हैं कि भूतयज्ञादि को महायज्ञों की संज्ञा इसलिये दी गयी है क्योंकि इन पाँच यज्ञों का अनुष्ठान सभी को सर्वदा करना होता है – भूतयज्ञादयो

[४] शतपथ ११.३.८.१-३, खण्ड ४ भाग-२ पृ.१५७-८।

सामान्य गृहस्थों के नित्य यज्ञ

वक्ष्यमाणाः 'पञ्चैव महायज्ञाः' सर्वदा सर्वैरनुष्ठेयत्वात्।[५] आगे सायणाचार्य कहते हैं कि ये पाँच महायज्ञ महासत्र भी हैं क्योंकि इनका अनुष्ठान गृहस्थ को जीवन पर्यन्त प्रतिदिन स्वयं ही करना होता है, पञ्चमहायज्ञ के नित्य अनुष्ठान के लिये किसी ऋत्विज की अपेक्षा नहीं की जाती। सायणाचार्य के शब्दों में– महांति निश्चलानि सत्राणि 'महासत्राणि' यावज्जीवमनुष्ठेयत्वात् ऋत्विगनपेक्षत्वाच्च।[६] तैत्तिरीयारण्यक में भी पञ्चमहायज्ञ के विषय में नित्य अनुष्ठान के इस अनतिक्रमणीय अनुशासन का उल्लेख हुआ है। अरण्यक का वाक्य है कि पञ्चमहायज्ञ ऐसा यज्ञ है जिसे नित्य प्रारम्भ करना होता है और नित्य सम्पन्न करना होता है – सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठन्ते।[७]

शतपथ ब्राह्मण के पञ्चमहायज्ञ विषयक प्रतिपादन पर टीका करते हुए सायणाचार्य आगे कहते हैं कि भूतयज्ञ में अन्न का अंश निकालकर इस सङ्कल्प के साथ पृथक् रख दिया जाता है कि अन्न का यह अंश सृष्टि के भूतों को प्राप्त हो। देवयज्ञ में विभिन्न देवों का विधिपूर्वक आह्वान करते हुए उनके निमित्त से अग्नि में अन्न का होम किया जाता है। पितृयज्ञ में विधिपूर्वक पितरों का आह्वान करते हुए इस सङ्कल्प के साथ दान किया जाता है कि पात्र के रिक्त होने पर्यन्त किया गया यह अन्नदान पितरों को सन्तुष्टि प्रदान करे। मनुष्ययज्ञ में किसी प्रकार का आह्वान या विधि-विधान करने की आवश्यकता नहीं होती, मनुष्ययज्ञ में तो पात्र के रिक्त होने तक अन्य मनुष्यों को केवल भोजन करवाना होता है, इस सङ्कल्प के साथ कि इस संविभाजित अन्न से सम्पूर्ण मानवजाति सन्तुष्टि को प्राप्त हो।

सायणाचार्य के अनुसार ब्रह्मयज्ञ अपनी शाखा अथवा परम्परा से सम्बन्धित विद्या का विधिवत् श्रद्धा एवं अनुशासनपूर्वक अध्ययन करने से सम्पन्न होता है– स्वशाखाध्ययनं ब्रह्मयज्ञ इत्यर्थः।[८] ऐसा अनुशासित अध्ययन यज्ञ ही है, क्योंकि इस प्रकार के अध्ययन से देव, पितर एवं ऋषि सभी प्रसन्न एवं सन्तुष्ट होते हैं।

ऋणꣳह वै जायते योऽस्ति

वेद में पञ्चमहायज्ञ के नित्य अनुष्ठान के प्रति यह जो प्रबल आग्रह दिखायी देता है वह सम्भवतः भारतीय परम्परा के इस मौलिक बोध से जुड़ा है कि मानव जीवन सृष्टि के समस्त भावों से

---

[५] शतपथ ११.३.८.२ पर सायणाचार्य भाष्य, शतपथ ११.३.८.२, खण्ड ४ भाग २ पृ.१५७।

[६] शतपथ ११.३.८.१ पर सायणाचार्य भाष्य, शतपथ ११.३.८.१, खण्ड ४ भाग २ पृ.१५७।

[७] तैत्तिरीयारण्यक २.१०, पृ.१४३।

[८] शतपथ ११.३.८.३ पर सायणाचार्य भाष्य, शतपथ ११.३.८.३, खण्ड ४ भाग २ पृ.१५८।

ऋणꣳह वै जायते योऽस्ति

अंशदान पाकर ही सम्भव होता है और इस प्रकार के सतत अंशदान से ही मानव जीवन का निर्वाह हो पाता है। हमारी यह सनातन मान्यता है कि मनुष्य सृष्टि के समस्त भावों के प्रति ऋण लेकर उत्पन्न होता है और जीने की प्रक्रिया में वह सब के प्रति ऋणी होता जाता है। इसलिये मनुष्य का यह सहज मानवीय दायित्व है कि वह प्रतिदिन सृष्टि के समस्त भावों के प्रति अपने ऋण का स्मरण करते हुए उसके आंशिक प्रत्यर्पण का प्रयास करे। पञ्चमहायज्ञ इस सहज ऋण के नित्य स्मरण एवं नित्य प्रत्यर्पण का अनुष्ठान ही है। मानव के इस सहज ऋण का प्रतिपादन करते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है –

ऋणꣳ ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान ऽएव देवेभ्य ऽऋषिभ्यः
पितृभ्यो मनुष्येभ्यः॥

स यदेव यजेत। तेन देवेभ्य ऽऋणं जायते तद्धचेभ्य ऽएतत्करोति
यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति॥

अथ यदेवानुब्रुवीत। तेनऽर्षिभ्य ऽऋणं जायते तद्धचेभ्य ऽएतत्करोत्यर्षीणां
निधिगोप इति हयनूचानमाहुः॥

अथ यदेव प्रजामिच्छेत। तेन पितृभ्य ऽऋणं जायते तद्धचेभ्य ऽएतत्करोति
यदेषाꣳ सन्ततान्यवच्छिन्ना प्रजा भवति॥

अथ यदेव व्वासयेत। तेन मनुष्येभ्य ऽऋणं जायते तद्धचेभ्य ऽएतत्करोति
यदेनान्व्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य ऽएतानि सर्व्वाणि करोति
स कृतकर्मा तस्य सर्व्वमाप्तꣳ सर्व्वं जितम्॥[९]

इस जगत् में जो भी है, वह ऋण में ही उत्पन्न हुआ है। जो उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न होने मात्र से देवों, ऋषियों, पितरों एवं मनुष्यों के प्रति ऋणी हो जाता है।

क्योंकि वह देवों के प्रति ऋणी है इसलिये वह यज्ञ करता है। ऋणी होने के कारण ही वह देवों के लिये ऐसा करता है। ऋण से उऋण होने हेतु ही वह देवों के लिये यज्ञ एवं होम करता है।

क्योंकि वह ऋषियों के प्रति ऋणी है इसलिये वह ऋषिवाक्यों को सुनकर उनका पुनः

[९] शतपथ १.५.५.१-५, खण्ड १ भाग १ पृ.२५०-१।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

उच्चारण करता है। ऋषियों के प्रति ऋण से उऋण होने के लिये ही वह ऐसा करता है और इस प्रकार ऋषियों से प्रणीत वचनों का श्रवण एवं पुनरुच्चारण करते हुए वह ऋषियों का निधिगोप कहलाता है, ऋषियों से प्राप्त निधि का संरक्षक बन जाता है।

क्योंकि वह पितरों के प्रति ऋणी है इसलिये वह सन्तान की इच्छा करता है। पितरों के प्रति ऋणी होने के कारण ही वह ऐसा करता है। उनके ऋण से उऋण होने के लिये ही वह पितरों से चली आ रही वंश परम्परा को अविच्छिन्न रखते हुए सन्तान उत्पन्न करता है।

क्योंकि वह मनुष्यों के प्रति ऋणी है इसलिये वह अतिथि का सम्मान-सत्कार करता है। मनुष्यों के प्रति ऋणी होने के कारण ही वह ऐसा करता है। मनुष्य जाति के प्रति ऋण से उऋण होने के लिये ही वह अतिथि को अन्न एवं आश्रय अर्पित करता है।

जो यह सब करता है वह अपने सब दायित्वों से उऋण हो जाता है। उसने अपने सब कार्यों का निर्वाह कर लिया है। उस कृतकर्मा के लिये सब प्राप्त है, सब उसके अधीन है।

इस प्रकार सनातन भारतीय दृष्टि में पञ्चमहायज्ञ को मानव के अपने सहज ऋण से उऋण होने के साधन के रूप में देखा गया है। पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान किसी विशेष पुण्य के अर्जन की अपेक्षा में नहीं अपितु इस जगत् में उत्पन्न होने और जीवन निर्वाह करने की प्रक्रिया में उपजे ऋण का प्रत्यर्पण करने के लिये किया जाता है। यह अनुष्ठान मनुष्य मात्र के सृष्टि के प्रति अपने दायित्व को समझने और निभाने का विशिष्ट भारतीय अनुशासन है।

मनुप्रणीत पञ्चमहायज्ञ विधान

भारतीय परम्परा में किसी भी महत्त्वपूर्ण मानवीय दायित्व को निभाने का कार्य कदापि व्यक्ति-मात्र के विवेक पर नहीं छोड़ा जाता। वेद संहिताओं, ब्राह्मणों, अरण्यकों एवं उपनिषदों में सङ्कलित श्रुति वाक्यों को विभिन्न जातियों एवं सम्प्रदायों के स्मृति ग्रन्थ एवं धर्मशास्त्र उस जाति अथवा सम्प्रदाय के लिये अनुसरणीय अनुशासन का रूप देते हैं। यह अनुशासन निश्चय ही सब के लिये एक-सा नहीं होता। श्रुति वाक्यों में प्रतिपादित सनातन धर्म को विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों एवं समुदायों के लोग अपने-अपने ढंग से दैनिक जीवन के अनुशासन में क्रियान्वित करते हैं। जाति, सम्प्रदाय एवं समुदाय धर्म सब का पृथक्-पृथक् ही होता है और यह कदाचित्

काल के साथ परिवर्तित-परिष्कृत भी होता रहता है। परन्तु किसी भी काल में अपनी जाति, सम्प्रदाय अथवा समुदाय से जुड़े भारतीय व्यक्ति के समक्ष सर्वदा मानवीय जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में उचित व्यवहार का, सम्यक् धर्म का, एक सुस्पष्ट ढाँचा तो रहता ही है। मानवीय जीवन के सब महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विवेकपूर्ण निर्णय करने के लिये, सब विषयों में सम्यक् अनुशासन का अनुसरण करने के लिये एक प्रशस्त मार्ग सभी जातियों, सम्प्रदायों एवं समुदायों के स्मृति ग्रन्थ अपने अनुयायिओं के लिये सर्वदा प्रस्तुत करते हैं।

यहाँ हम पञ्चमहायज्ञ के विषय में मनुस्मृति में प्रतिपादित अनुशासन का विस्तृत विवेचन करेंगे। मनुस्मृति को सम्प्रति पारम्परिक भारतीय जीवन प्रणाली का कदाचित् सर्वाधिक प्रामाणिक स्मृतिग्रन्थ माना जाता है। वस्तुतः मनुस्मृति ब्राह्मण वर्ण का प्रमाणग्रन्थ है – इसमें प्रतिपादित अनुशासन मुख्यतः ब्राह्मणों के लिये और विशेषतः मनुस्मृति की परम्परा में आने वाले ब्राह्मणों के लिये अनुसरणीय है।

यह तो सर्वविदित है कि भौतिक जगत् के निर्वाह का दायित्व ब्राह्मणों पर सबसे न्यून है। ब्राह्मणों के लिये प्रतिग्रह स्वीकार्य है। वे अन्य वर्णों से जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक अन्न एवं अन्य भौतिक साधन ग्रहण करने के अधिकारी हैं। ब्राह्मणों का विशेष दायित्व ब्रह्मविद्या का संरक्षण एवं उसे अगली पीढ़ियों तक प्रेषित करना है। भारतीय दृष्टि में ब्रह्मविद्या का यह ज्ञान धर्म के संरक्षण के लिये, सृष्टि में सुव्यवस्थित सन्तुलन बनाये रखने के लिये, अनिवार्य है। इस अनिवार्य ज्ञान के संरक्षक एवं संवाहक होने के नाते ब्राह्मण अन्य वर्णों से जीवननिर्वाह के भौतिक साधन पाने के सहज अधिकारी हो जाते हैं। आगे हम देखेंगे कि मनुस्मृति में ऐसे प्रतिग्रह के अधिकारी ब्राह्मण वर्ण के गृहस्थों के लिये पञ्चमहायज्ञ के नित्य अनुष्ठान का विस्तृत अनुशासन नियत किया गया है। ब्राह्मणों के लिये ही पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान का अनुशासन इतना कड़ा है, तो अन्य वर्णों के लिये तो निश्चय ही यह अनुशासन और भी कठिन एवं और भी अनुल्लङ्घनीय होगा।

वास्तव में आर्ष साहित्य में यह पुनः पुनः कहा गया है कि पञ्चमहायज्ञ का नित्य अनुष्ठान सभी वर्णों के लिये करणीय है। याज्ञवल्क्य स्मृति में तो विशेषतः स्पष्ट किया गया है कि शूद्र गृहस्थ को पञ्चमहायज्ञ की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये। स्मृति में शूद्र गृहस्थ के लिये केवल इतनी छूट दी गयी है कि वह पञ्चमहायज्ञ से सम्बन्धित विभिन्न कर्मों को सङ्क्षिप्त कर केवल नमस्कार मन्त्र का जाप करते हुए पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न कर ले – नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्।[१०]

[१०] याज्ञवल्क्य १.१२१, पृ.५४।

सामान्य गृहस्थों के नित्य यज्ञ

महाभारत में भी भगवान् शङ्कर देवी उमा को पञ्चमहायज्ञ का महत्त्व समझाते हुए कहते हैं कि शूद्र गृहस्थ को तो विशेष रूप से अन्य तीन वर्णों को आतिथ्य प्रदान करने का प्रयास करना चाहिये – सर्वातिथ्यं त्रिवर्गस्य यथाशक्ति यथार्हतः।[११] महाभारत में निषाद दस्यु कायव्य की कथा भी आती है। कायव्य तो निषाद होते हुए चतुर्वर्ण से इतर था और दस्यु होने के कारण समाज से भी इतर ही था। कथा के अनुसार उस निषाद दस्यु के हाथों आस-पड़ोस के सब परिवार अन्न एवं भरण-पोषण के साधन पाते रहे। अपने पड़ोसियों का नित्य भरण-पोषण करने और अपने माँ-बाप की श्रद्धापूर्वक सेवा-शुश्रूषा करने से वह वर्णेतर एवं समाजेतर कायव्य महान् पुण्य का भागी हुआ।[१२]

दूसरी ओर स्मृति ग्रन्थों का यह भी आदेश है कि पञ्चमहायज्ञ के कर्ता गृहस्थ के घर में सब वर्णों के अतिथि सादर आतिथ्य पाने के अधिकारी हैं। ब्राह्मण गृहस्थ के घर आया शूद्र अतिथि सम्मान-सत्कार के योग्य है और जैसा कि हम आगे देखेंगे, पञ्चमहायज्ञ के कर्ता गृहस्थ के लिये तो चण्डाल को भी सादर सन्तुष्ट करना अनिवार्य है। इस प्रकार ससम्मान अन्न-आश्रय आदि पाने का अधिकार और देने का दायित्व सभी वर्णों के लिये समान है। सभी वर्णों के लिये इस अधिकार एवं दायित्व की अनुल्लङ्घनीयता पञ्चमहायज्ञ के अनुशासन का मुख्य अङ्ग है। आगे मनुप्रणीत पञ्चमहायज्ञ अनुशासन का विवेचन करते हुए हमें देने के दायित्व एवं पाने के अधिकार की सार्विकता पर कुछ और विचार करने का अवसर मिलेगा। अस्तु, अब मनुप्रणीत अनुशासन का वर्णन प्रारम्भ किया जाये।

पञ्चमहायज्ञ विवाह से ही प्रारम्भ होता है

गृहस्थाश्रम धर्म का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हुए मनु कहते हैं कि विवाह के उपरान्त गृहस्थ को विवाह सम्बन्धी होम के लिये प्रज्वलित अग्नि से ही गृह्याग्नि स्थापित कर पञ्चयज्ञ का नित्य अनुष्ठान आरम्भ कर देना चाहिये –

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥[१३]

---

[११] महाभारत *अनुशासन* १४१.५७, पृ.५९२१।
[१२] महाभारत *शान्ति* १३५, पृ.४७६२-४।
[१३] मनुस्मृति ३.६७, पृ.८१।

विवाह के समय जिस अग्नि में लाजा आदि होम किये गये हों, गृहस्थ को उसी को स्थापित कर उस में विधिवत् सभी नित्य-नैमित्तिक गृह्य कर्म करने चाहियें। प्रतिदिन का अन्नपाक और पञ्चयज्ञ भी उसी अग्नि में सम्पन्न करना चाहिये।

इस आदेश के प्रायः तुरन्त पश्चात् मनु पञ्चमहायज्ञ को परिभाषित करते हुए कहते हैं –

पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्।
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥[१४]

गृहस्थ के लिये पाँच महायज्ञों के प्रतिदिन अनुष्ठान का विधान है। इनमें से अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, बलिहरण भूतयज्ञ है और अतिथिपूजन मनुष्ययज्ञ है।

पञ्चमहायज्ञ की यह मनुप्रणीत परिभाषा शतपथ ब्राह्मण की परिभाषा से भिन्न नहीं है, और मनु प्रायः शतपथ के शब्दों का ही उपयोग कर रहे हैं। केवल ब्रह्मयज्ञ के प्रसङ्ग में जहाँ शतपथ ब्राह्मण में अध्ययन का निर्देश है वहाँ मनु अध्यापन का विधान करते हैं। यह अन्तर कदाचित् इसीलिये है कि मनु मुख्यतः ब्राह्मण गृहस्थों के लिये पञ्चमहायज्ञ के अनुशासन का प्रतिपादन कर रहे हैं। जो भी हो, मनु द्वारा प्रतिपादित पञ्चमहायज्ञ अनुष्ठान और वेद-इतिहास में प्रतिपादित अनुष्ठान का सार तो एक ही है। दोनों के लिये गृहस्थ सम्पूर्ण जीवसृष्टि के भरण-पोषण का स्रोत है और पञ्चमहायज्ञ गृहस्थ के इस दायित्व के निर्वाह का विधान है। इसीलिये पञ्चमहायज्ञ की सङ्क्षिप्त परिभाषा प्रस्तुत करने के किञ्चित् उपरान्त मनु कहते हैं –

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते इतराश्रमाः।
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृहम्।
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छताऽत्यन्तं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥[१५]

[१४] मनुस्मृति ३.६९-७०, पृ.८४-५।
[१५] मनुस्मृति ३.७७-७९, पृ.९२-४।

सामान्य गृहस्थों के नित्य यज्ञ

जिस प्रकार सभी जीव वायु का आश्रय लेकर जीते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर करते हैं। क्योंकि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थ से ही अन्न एवं ज्ञान प्राप्त करते हैं, इसलिये गृहस्थाश्रम ही आश्रमों में ज्येष्ठ है।

अतः इहलोक में अत्यन्त सुख और परलोक में अक्षय स्वर्ग की इच्छा रखने वालों को प्रयत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम के दायित्व का निर्वाह करना चाहिये। गृहस्थ का यह कठिन दायित्व दुर्बलेन्द्रिय गृही की क्षमता से तो परे है।

आगे मनु कहते हैं कि ऋषि, पितर, देव, भूत और अतिथि सभी अपने निर्वाह के लिये गृहस्थ पर ही आशा लगाये रहते हैं। इसलिये गृहस्थ को इन सब की आशाओं को सर्वदा ध्यान में रखते हुए पञ्चमहायज्ञ के नित्य अनुष्ठान के माध्यम से उन्हें तृप्त करने का प्रयास करते रहना चाहिये।

पितृयज्ञ

इस प्रकार गृहस्थ के दिन प्रति दिन के जीवन में पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान की प्रधानता का प्रतिपादन करने के उपरान्त मनु इस अनुष्ठान के पाँच अङ्गों के लिये पृथक्-पृथक् विधि का विस्तृत विधान करते हैं। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम पितृयज्ञ का विधान करते हुए मनु कहते हैं कि गृहस्थ को प्रतिदिन अन्न-जल अथवा दूध एवं फल-मूल आदि का अर्पण कर प्रीतिपूर्वक पितरों के लिये श्राद्धकर्म करना चाहिये। यह नित्य का श्राद्ध ही पितृयज्ञ है।

आगे मनु कहते हैं कि नित्य का यह श्राद्धकर्म करते हुए एक ही विप्र को भोजन करवाना पर्याप्त है। उपयुक्त काल पर किये जाने वाले नैमित्तिक श्राद्धकर्म में पितरों का प्रतिनिधित्व करने वाले विप्र के अतिरिक्त विश्वेदेवों के प्रतिनिधि एक अन्य विप्र को भी भोजन करवाना अनिवार्य होता है। परन्तु पितृयज्ञ के सन्दर्भ में किये गये नित्य श्राद्ध में विश्वेदेवों के प्रतिनिधि अन्य विप्र की अपेक्षा नहीं रहती। मनु स्पष्ट कहते हैं कि –

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थं पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत्कंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम्॥[१६]

पञ्चयज्ञ में पितरों के निमित्त एक अकेले विप्र को भी भोजन करवाना पर्याप्त है। इस सन्दर्भ में विश्वेदेवों के प्रतिनिधि किसी अन्य द्विज की अपेक्षा करना आवश्यक नहीं होता।

[१६] मनुस्मृति ३.८३, पृ.९७।

देवयज्ञ

पितृयज्ञ का विधान करने के उपरान्त मनु पञ्चमहायज्ञ के द्वितीय अङ्ग देवयज्ञ का विधान करते हुए कहते हैं –

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्यादेवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्।
अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च।
कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च।
सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः॥[१७]

विश्वेदेवों के लिये भोजन सिद्ध होने पर ब्राह्मण गृहस्थ को गृह्याग्नि में देवों के निमित्त विधिपूर्वक होम करना चाहिये और अग्नि, सोम, अग्निसोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि, कुहु, अनुमति, प्रजापति, द्यु सहित पृथिवी और अन्ततः स्विष्टकृत के लिये क्रमपूर्वक आहुति देनी चाहिये।

मनुस्मृति के उपलब्ध भाष्यों मे से मेधातिथि कृत 'मनुभाष्य' की ख्याति बहुत ऊँची है। मनुभाष्य में मेधातिथि स्पष्ट करते हैं कि 'विश्वेदेवों के लिये सिद्ध' भोजन का अर्थ तो विश्व के समस्त देवों के लिये पकाये गये अन्न से ही है। परन्तु वास्तव में यहाँ घर में पके सम्पूर्ण अन्न का ही सन्दर्भ है। उसी अन्न से देवों के लिये होम किया जाता है, उसके उपरान्त उसी अन्न से भूतों के लिये बलि निकाली जाती है और अतिथि आदि को भोजन करवाया जाता है। देवों के प्रति होम के लिये अलग से अन्न पकाने का विधान यहाँ नहीं किया गया।

मनु अपने प्रतिपादन की अनुशासित प्रामाणिकता के लिये विख्यात हैं। मनुस्मृति का आग्रह है कि देवयज्ञ के लिये किया जाने वाला होम गृह्याग्नि में होना चाहिये। गृह्याग्नि उस अग्नि को कहा जाता है जिसे गृहस्थ विवाह के समय प्रज्वलित होमाग्नि से स्थापित कर निरन्तर सुरक्षित रखता है। अन्य धर्मशास्त्र मनु के इस अनुशासन को कुछ शिथिल कर गृह्याग्नि के अभाव में गृहस्थ की सामान्य पाकाग्नि में देवयज्ञ का होम सम्पन्न करने की छूट देते हैं। अन्यथा देवयज्ञ की विधि

[१७] मनुस्मृति ३.८४-८६, पृ.९८-१००।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

सामान्य गृहस्थों के नित्य यज्ञ

प्रायः सब धर्मशास्त्रों में मनुप्रणीत देवयज्ञ के समान ही है, केवल आहुति पाने वाले देवों के नाम और आहुतियों का क्रम विभिन्न स्मृतियों में बदलता रहता है।

भूतयज्ञ

पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान का अगला अङ्ग भूतयज्ञ है। सृष्टि के समस्त चर या अचर एवं जड़ या चेतन पदार्थ एवं प्राणी भूत कहलाते हैं। भूतों को सृष्टि के ऐसे मूल तत्व भी समझा जा सकता है जिनसे सृष्टि के सभी पदार्थों एवं प्राणियों की संरचना हुई है। भूतयज्ञ में समस्त भूतों के लिये अन्न का अंश निकालकर इसे भूतों के विभिन्न प्रतिनिधियों को समर्पित किया जाता है। भूतों के निमित्त निकाले गये अन्न के अंश को बलि और अंश निकालने की क्रिया को बलिहरण कहा जाता है। बलिहरण ही भूतयज्ञ है। बलिहरण का अनुशासन नियत करते हुए मनु कहते हैं–

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत्।
मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत्।
उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चारिभ्य एव च।
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वान्नभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्।
शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वयसाञ्च कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि।
एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना॥[१८]

देवों के लिये अग्नि में सम्यक् आहुति अर्पण करने के उपरान्त चारों दिशाओं में

[१८] मनुस्मृति ३.८७-९३, पृ.१०१-०६।

प्रदक्षिण क्रम में समस्त भूतों के लिये बलि अर्पित की जाये। इन्द्र एवं उनके अनुगामियों का आह्वान करते हुए पूर्व दिशा में, यम एवं उनके अनुगामियों का आह्वान करते हुए दक्षिण दिशा में, वरुण एवं उनके अनुगामियों का आह्वान करते हुए पश्चिम दिशा में और सोम एवं उनके अनुगामियों का आह्वान करते हुए उत्तर दिशा में बल्यर्पण किया जाये। मरुतों के लिये घर के द्वार पर, अप् के लिये जलस्थान पर और वनस्पतियों के लिये मूसल-ओखली के पास बलि निकाली जाये। श्री का आह्वान करते हुए वास्तुपुरुष के शीर्ष पर और भद्रकाली का आह्वान करते हुए वास्तुपुरुष के पाँवों पर बलि रखी जाये। ब्रह्मा एवं वास्तोष्पति का आह्वान करते हुए वास्तुपुरुष के मध्य में बलि अर्पित की जाये। तदुपरान्त विश्वेदेवों का आह्वान करते हुए दिवाचारी एवं रात्रिचारी समस्त जीवों के निमित्त आकाश में बलि के अन्न का उत्क्षेप किया जाये। सब के लिये सब प्रकार के अन्न की बहुलता की कामना करते हुए वास्तु के पृष्ठ पर अथवा घर के ऊपर बलि अर्पित की जाये। अन्ततः पितरों के निमित्त बलि का शेष अन्न दक्षिण दिशा में अर्पित कर दिया जाये।

इसके उपरान्त श्वानों, पक्षियों, कृमियों और चण्डालों, पापरोग के कारण समाज से बाहर हुए मनुष्यों एवं अन्य सब प्रकार के पतितों के लिये सावधानीपूर्वक धूल आदि से बचाकर पृथिवी पर धीरे-से भोजन रख दिया जाये।

जो ब्राह्मण गृहस्थ श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन इस प्रकार सब भूतों के लिये बलि अर्पण करता है वह तेजोमय हिरण्यगर्भ देह पाकर ऋजु पथ से ब्रह्मलोक को पहुँच जाता है।

भूतयज्ञ में इस प्रकार चारों दिशाओं के संरक्षक देवताओं, वायु, जल एवं वनस्पति के अभिमानी देवों, गृहभवन के आधारभूत वास्तुपुरुष, दिवाचारी एवं रात्रिचारी समस्त जीवों के संरक्षक विश्वेदेवों, पितरों और सब प्रकार की समृद्धि का सञ्चार करने वाले सभी भूतों को स्मरण कर उनके निमित्त बलि निकाली जाती है। उसके उपरान्त पक्षियों, कृमियों, पशुओं और उन सब मनुष्यों के लिये भोजन रखा जाता है जो किसी व्याधि, पाप अथवा अन्य दुर्भाग्य के कारण मानव समाज से बाहर रहने को अभिशप्त हैं। यह वृहद् भूतयज्ञ मानो सम्पूर्ण सृष्टि को ही गृहस्थ की भरण-पोषण की सहज वृत्ति के भीतर ले आता है।

भूतयज्ञ में सावधानी एवं प्रीतिपूर्वक सभी भूतों का स्मरण और उनके पोषण का प्रयास किया जाता है। देवयज्ञ में देवों के निमित्त निकाले गये अन्न को अग्नि में होम कर दिया जाता है। परन्तु भूतयज्ञ में भूतों के निमित्त निकाले गये अन्न का या तो आकाश में उत्क्षेप किया जाता है या उसे

सावधानी पूर्वक भूमि पर रख दिया जाता है – इस आशा के साथ कि जिन भूतों के लिये यह अन्न निकाला गया है वे अथवा उनके प्रतिनिधि सुख-शान्ति से इसका उपभोग कर पायेंगे। मनुस्मृति एवं अन्य धर्मशास्त्रों में विशेष आग्रहपूर्वक यह निर्देश दिया गया है कि भूतयज्ञ में कृमियों, पक्षियों, पशुओं और समाजेतर मनुष्यों के लिये निकाला गया अन्न अत्यन्त सावधानी से इस प्रकार भूमि पर रखना चाहिये कि यह अन्न धूल-मिट्टी आदि से कदापि भ्रष्ट न हो। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि बलि का अन्न भूमि पर रखने से पूर्व भूमि को बुहारकर वहाँ पानी छिड़क लेना चाहिये।[१९] इसी सन्दर्भ में मनुस्मृति 'शनकैर्निर्वपेद्भुवि' वाक्य से विशेष सावधानी बरतने का निर्देश देती है।

मनु के इस विधान पर टीका करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि भूमि पर बलि रखने का अर्थ यह नहीं है कि बलि के अन्न को किसी उपयुक्त पात्र में न रखा जाये। मेधातिथि के अनुसार स्मृतिकार का आशय केवल इतना है कि बलि का अन्न सीधे अपने हाथ से आदाता को न दिया जाये, परन्तु आदाता के निमित्त उपयुक्त स्थान पर रख दिया जाये। मेधातिथि आगे कहते हैं कि पक्षियों के लिये निकाला गया बलि का अन्न ऐसे स्थान पर रखना चाहिये जहाँ वे कुत्तों आदि के भय से मुक्त हो उस अन्न का सेवन कर सकें और कृमियों का बलिभाग ऐसे स्थान पर रखना चाहिये जहाँ प्रायः उनका उद्भव होता हो।

मनुष्ययज्ञ

पितरों, देवों एवं समस्त भूतों के लिये इस प्रकार विधिवत् अंश निकालने और उन सब को सन्तुष्ट करने के पश्चात् ही अन्न मानव समाज में उपभोग के योग्य बन पाता है। इस अवशिष्ट अन्न को अपने परिवार के साथ ग्रहण करने से पहले गृहस्थ को भिक्षुओं, अतिथियों एवं अपने पर निर्भर सब भृत्यों को भी सन्तुष्ट करना होता है। भिक्षुओं, अतिथियों एवं भृत्यों को श्रद्धा एवं अनुशासनपूर्वक अन्न का भाग देना ही मनुष्ययज्ञ है।

भिक्षा

मनु मनुष्ययज्ञ का पञ्चयज्ञ के अन्य अङ्गों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत विधान करते हैं। इस विधान का पहला चरण भिक्षुओं को भिक्षा देना है। इस सन्दर्भ में मनु का आदेश है –

[१९] आपस्तम्ब २.३.१५, पृ.१८८।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

कृत्वैतद्बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे।
यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद्गुरोः।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥[२०]

बलिकर्म करने के उपरान्त स्वयं भोजन करने से पूर्व अतिथियों को भोजन करवाया जाये और भिक्षुओं को भिक्षा दी जाये। ब्रह्मचारी भिक्षुओं को विशेषतः विधिवत् भिक्षा देने का अनुशासन है।

इस प्रकार याचकों को भिक्षा देकर द्विज गृहस्थ अपने गुरु को विधिवत् गोदान करने से प्राप्त होने वाले पुण्य के तुल्य फल का भागी होता है।

भिक्षा द्वार पर आये भिक्षु को अल्प परिमाण में किये जाने वाले अन्नदान को कहते हैं। भिक्षा देने का कर्म अतिथिपूजन से भिन्न है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, अतिथि को सम्मानपूर्वक घर के भीतर बुला, आसन, अर्घ्य, पाद्य आदि प्रस्तुत करने के पश्चात् श्रद्धापूर्वक भरपेट भोजन करवाने का विधान है। भिक्षा में तो भिक्षु को उसके भोजन का स्वल्प अंश ही देना होता है। ब्रह्मचारियों एवं संन्यासियों का यह अनुशासन है कि वे किसी एक गृहस्थ से मुट्ठी-भर से अधिक अन्न स्वीकार नही करते। मेधातिथि के अनुसार मुट्ठी-भर अन्न का दान ही भिक्षा है, यही गृहस्थ स्त्रियों में प्रचलित रीति है। मनुस्मृति के अन्य सुविख्यात टीकाकार कुल्लूक स्मृति के इस अंश की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ग्रास-मात्र अन्न का दान ही भिक्षा है, परन्तु सम्भव होने पर इससे कुछ अधिक भी दिया जा सकता है।

मेधातिथि आगे स्पष्ट करते हैं कि द्वार पर माँगने आये सभी भिक्षुओं को भिक्षा देना गृहस्थ के लिये अनिवार्य है। अपनी शाखा अथवा परम्परा से सम्बन्धित विद्या का अनुशासनपूर्वक अध्ययन करने में रत ब्रह्मचारी भिक्षुओं को विशेष विधिवत् स्वस्तिवाचन आदि करते हुए भिक्षा देनी होती है। अन्यों को भिक्षा देते हुए स्वस्तिवाचन आदि करना अनिवार्य नहीं। परन्तु भिक्षा का अन्न तो सभी को देना होता है, उन भिक्षुओं को भी जो मात्र पाखण्डी दिखायी देते हों।

मनुस्मृति के अगले तीन श्लोकों में मनु भिक्षु के प्रति सर्वदा सम्मान एवं श्रद्धा रखते हुए भिक्षा देने के अनुशासन का प्रतिपादन करते हैं। मनु कहते हैं कि मोहवश याचक के प्रति अवज्ञा एवं अवहेलना के भाव से दिया हुआ दान, देने वाले के हव्य-कव्य आदि सभी पुण्यकर्मों के अर्जित

[२०] मनुस्मृति ३.९४-९५, पृ.१०७-०८।

फल को नष्ट कर देता है। मनु का कहना है कि भिक्षा देना तो भिक्षु के मुख पर स्थित अग्नि में होम करने के समान है। विधिपूर्वक किया गया यह भिक्षाहोम इहलोक में उपस्थित व्याधि, राजपीड़ा एवं शत्रुपीड़ा आदि सभी विघ्नों को नष्ट कर देता है और पूर्व के महान् पापों का प्रक्षालन कर दाता गृहस्थ के परलोक को भी सँवार देता है।

अतिथि

द्वार पर आने वाले सभी भिक्षुओं को श्रद्धा एवं सम्मानपूर्वक भिक्षा देने के अनुशासन का प्रतिपादन करने के उपरान्त मनु मनुष्ययज्ञ के अगले अङ्ग, अतिथिपूजन का विधान करते हैं। इस प्रसङ्ग में मनु का आदेश है –

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति संस्कृत्य विधिपूर्वकम्॥[२१]

घर आये अतिथि को हाथ-मुँह धोने के लिये जल एवं बैठने के लिये आसन प्रस्तुत किया जाये और उसके उपरान्त अतिथि के लिये विशेषतः संस्कृत अन्न से उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन करवाया जाये।

मनु के इस श्लोक पर टीका करते हुए मेधातिथि स्पष्ट करते हैं कि इस सन्दर्भ में अतिथि वही है जो स्वयं आ उपस्थित हुआ हो, निमन्त्रण देकर घर बुलाये गये मित्र, गुरुजन आदि अतिथि नहीं होते। कुछ आगे स्वयं मनु अतिथि की परिभाषा देते हुए यह आग्रह करते हैं कि केवल अनामन्त्रित एवं अपरिचित जन ही अतिथि कहलाता है। इस प्रकार बिना बुलाये घर आये किसी अपरिचित को ही सम्मान-सत्कार पूर्वक बैठाकर विधिवत् भोजन करवाने से ही मनुष्ययज्ञ का यह अङ्ग सम्पन्न होता है। मनु का आदेश है कि अपरिचित अतिथि को ससम्मान भोजन करवाने का यह अनुशासन सब गृहस्थों को निभाना होता है, उन गृहस्थों को भी जो स्वयं अत्यन्त मितव्ययी जीवन व्यतीत कर रहे हों। क्योंकि अनर्चित लौटा अतिथि तो गृहस्थ के समस्त पुण्यों का क्षय ही कर देता है। स्मृति के शब्दों में –

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन्॥[२२]

---

[२१] मनुस्मृति ३.९९, पृ.१११।
[२२] मनुस्मृति ३.१००, पृ.१११।

ब्राह्मण अतिथि जिसके गृह में श्रद्धापूर्वक सत्कार नहीं पाता, वह उस गृहस्थ के समस्त पुण्यों को ले जाता है। उञ्छवृत्ति से रहने और नित्य पञ्चाग्नि में शास्त्रानुसार होम करने वाला अनुशासित गृहस्थ भी घर आये ब्राह्मण की समुचित अर्चना न करने से अपने सब सुकृतों से वञ्चित हो जाता है।

मनु का आग्रह है कि दरिद्र गृहस्थ के घर में अन्न का अभाव तो हो सकता है परन्तु अतिथि के लिये स्नेहसिक्त सत्कार का अभाव तो कदापि नहीं हो सकता। स्मृति का कहना है –

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥[२३]

सज्जनों के घर में अतिथि के आसन के लिये भूमि, स्नानादि के लिये जल, सोने के लिये तृणों की शय्या और चौथे, स्नेहसिक्त वाणी का तो कभी अभाव नहीं होता।

अतिथि और अभ्यागत

घर आये अतिथि की सम्मानपूर्वक आवभगत करने के अनुल्लङ्घनीय अनुशासन का प्रतिपादन करने के पश्चात् मनु अतिथि की परिभाषा करते हुए स्पष्ट करते हैं कि किसे अतिथि कहा जा सकता है और किसे नहीं। मनु की परिभाषा के अनुसार अतिथि के दो ही मुख्य लक्षण होते हैं – पहला यह कि उसके आने-जाने का कोई निश्चित काल नहीं होता है और दूसरे वह आतिथेय गृहस्थ से नितान्त असम्बन्धित एवं अपरिचित होता है। जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, अनामन्त्रित, अनपेक्षित और अपरिचित आने वाला ही अतिथि हुआ करता है। स्मृति के शब्दों में –

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते।
नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं सांगतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥[२४]

गृह में आकर एक रात्रि-भर रुकने वाले ब्राह्मण को अतिथि कहा जाता है। क्योंकि

[२३] मनुस्मृति ३.१०१, पृ.११३।
[२४] मनुस्मृति ३.१०२-१०३, पृ.११३-१४।

उसका रहना अनित्य-अस्थायी होता है, इसीलिये वह अतिथि कहलाता है, अनित्यं स्थितः अतिथिः।

गृहस्थ के ही ग्राम का निवासी कोई विप्र अतिथि नहीं होता, न ही उस ग्राम का कोई निवासी जिस ग्राम से गृहस्थ की पत्नी और गृह्याग्नि आये हों। गृहस्थ के सखा, सहपाठी अथवा अन्यथा परिचित भी अतिथि नहीं होते। ये सभी उपयुक्त भोजनकाल पर घर में उपस्थित होने पर भी अतिथि नहीं कहलाते।

यहाँ अतिथि की परिभाषा करते हुए मनु ब्राह्मण को ही अतिथि की संज्ञा देते हैं। आगे विशेषतः अतिथि के वर्ण का विषय उठाते हुए वे स्पष्ट कहते हैं कि ब्राह्मण गृहस्थ के घर पर ब्राह्मण से इतर वर्ण के लोग अतिथि नहीं कहलाते, परन्तु वहीं मनु यह आदेश भी देते हैं कि ब्राह्मण गृहस्थ को भोजनकाल पर घर आने वाले क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों को सम्मानपूर्वक सत्कृत कर विधिवत् भोजन करवाना चाहिये। उपयुक्त क्रम में मनु के इन श्लोकों को उद्धृत करते हुए हम अतिथि के वर्ण के विषय पर पुनः विचार करेंगे।

उपरोक्त श्लोकों का मुख्य कथ्य अतिथि के वर्ण का नियमन करना नहीं, अपितु यह प्रतिपादन करना है कि आश्रय एवं भोजन की अपेक्षा से आया अनामन्त्रित एवं अपरिचित याचक ही अतिथि कहलाने का अधिकारी होता है। भारतीय आर्ष साहित्य की अतिथि के सन्दर्भ में यही मूल अवधारणा है। मनुष्ययज्ञ के अङ्गस्वरूप किया जाने वाला अतिथिपूजन अनामन्त्रित अपरिचित याचक को सम्मानपूर्वक आश्रय एवं भोजन देने से ही सम्पन्न होता है। स्नेह एवं प्रीति वश घर आये या बुलाये गये सखा-सम्बन्धी इस सन्दर्भ में अतिथि नहीं होते।

महाभारत में युधिष्ठिर को अन्नदान का अनुशासन समझाते हुए श्रीकृष्ण बिना बुलाये द्वार पर आ उपस्थित हुए अपरिचित याचक और स्नेहपूर्वक घर आये सखा-सम्बन्धी के मध्य अन्तर अत्यन्त स्पष्टता से बताते हैं। श्रीकृष्ण का कहना है कि घर आये सखा-सम्बन्धी तो अभ्यागत कहलाते हैं, अतिथि तो अपरिचित ही हुआ करता है, अभ्यागतो ज्ञातपूर्वो ह्यज्ञातोऽतिथिरुच्यते।[२५] गृहस्थ को निश्चय ही अतिथि और अभ्यागत दोनों की ही ससम्मान आवभगत करनी होती है। परन्तु अतिथि को आश्रय-भोजन आदि प्रस्तुत करना मनुष्ययज्ञ का अनिवार्य अङ्ग है। अभ्यागत तो घर के सदस्य-से ही होते हैं और जैसे कि मनु आगे कहते हैं, अभ्यागत के लिये तो अतिथियों के भोजन के उपरान्त आतिथेय परिवार के साथ बैठकर भोजन करना ही उपयुक्त होता है।

[२५] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३२९।

सायं का अतिथि

किसी अपरिचित, अनपेक्षित एवं अनामन्त्रित अतिथि का सायं के समय द्वार पर आ उपस्थित होना तो मनु के अनुसार स्वयं अस्ताचलगामी सूर्य द्वारा गृहस्थ के लिये कोई महान् निधि ले आने के समान है। मनु का आदेश है कि सायं के समय आये ऐसे अतिथि का विशेष श्रद्धापूर्वक स्वागत-सत्कार करना चाहिये। स्मृति के शब्दों में –

> अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
> काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत्॥[२६]
>
> सायं के समय गृहस्थ के द्वार पर आने वाला अतिथि तो मानो स्वयं सूर्य द्वारा ही लाया जाता है। ऐसे सायं के अतिथि को कदापि द्वार से लौटाया नहीं जाता। वह उपयुक्त काल पर उपस्थित हुआ हो अथवा अनुपयुक्त काल पर, उसे किसी भी अवस्था में भोजन से तृप्त किये बिना सुलाया नहीं जाता।

मेधातिथि मनु के इस अनुशासन पर टीका करते हुए कहते हैं कि इस सन्दर्भ में उपयुक्त काल का अर्थ भोजनकाल से है और अनुपयुक्त काल वह काल है जब सायं का भोजनकाल व्यतीत हो जाने के उपरान्त उस दिन के लिये पकाया गया समस्त अन्न समाप्त हो चुका हो। मेधातिथि का कहना है कि ऐसी स्थिति में पुनः भोजन पकाकर अतिथि को तृप्त करना होता है, और थोड़ा आगे स्वयं मनु विलम्ब से आये अतिथि के लिये पुनः अन्न पकाने के अनुशासन का निर्देश करते हैं। स्मृति का स्पष्ट आग्रह है कि सायं के समय घर आये अतिथि को न तो लौटाया जा सकता है, न भूखे ही सोने दिया जा सकता है।

समस्त आर्ष साहित्य में सायं के समय आया अतिथि विशेष शुभ एवं श्रद्धेय माना गया है। सूर्यास्त के पश्चात् आने वाला अतिथि आश्रय एवं भोजन पाने की अपनी आवश्यकता का और अधिक काल तक संवरण करने की स्थिति में तो नहीं होता। सम्भवतः इसीलिये ऐसे अतिथि को समुचित आतिथ्य प्रदान करने का अनुशासन विशेषतः अनुल्लङ्घनीय माना गया है। श्रीविष्णुपुराण में कहा गया है कि सूर्यास्त के पश्चात् आने वाले अतिथि को गृहद्वार से लौटाने का पाप दिन में आये अतिथि को लौटाने के पाप से आठ गुना गुरुतर होता है।[२७] प्रसङ्गवश, श्रीविष्णुपुराण का यह भी आग्रह है कि स्वयं भोजन करने से पहले गृहस्थ को गाय दोहने में

---

[२६] मनुस्मृति ३.१०५, पृ.११६।
[२७] विष्णु ३.११.१०८, पृ.२३७।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

जितना समय लगता है, न्यूनतम उतने काल तक अपने आङ्गन में खड़े होकर अतिथि के आने की प्रतीक्षा करनी चाहिये।[२८]

आतिथ्य

मनुस्मृति के अगले तीन श्लोकों में अतिथि को भोजन करवाने के सम्यक् आचार का वर्णन हुआ है। मनु द्वारा अनुशंसित आतिथ्य का मुख्य अङ्ग अतिथि के लिये घर में उपलब्ध सर्वोत्तम अन्न प्रस्तुत करना है। उत्कृष्ट अन्न अतिथि से बचाकर आतिथेय गृहस्थ स्वयं अपने उपभोग के लिये नहीं रखा करते। इस सन्दर्भ में मनु का आदेश है –

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथिपूजनम् ॥[२९]

आतिथेय गृहस्थ को स्वयं कोई ऐसा अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिये जो पहले अतिथि के समक्ष प्रस्तुत न किया गया हो। अतिथि का श्रद्धापूर्वक स्वागत-सत्कार करके गृहस्थ धन-समृद्धि, यश, आयुष एवं अन्ततः स्वर्ग को प्राप्त होता है।

मनु के इस अनुशासन पर टीका करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि सूप, दही, घी एवं शक्कर आदि उत्कृष्ट अन्न अतिथि को भेंट किए बिना गृहस्थ को स्वयं नहीं खाने चाहियें, परन्तु रोगियों के लिये घर में जो दलिया-खिचड़ी आदि पकाये जाते हैं और अन्य जो कटु रस के व्यञ्जन बनते हैं, उन्हें अतिथि की इच्छा न होने पर उसके समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं होता।

सम्यक् आतिथ्य का अनुशासन प्रतिपादित करते हुए आगे मनु अनेक अतिथियों के एक ही समय घर में उपस्थित होने पर उन्हें उनके गुणों एवं प्रतिष्ठा के अनुरूप आतिथ्य देने का आदेश देते हैं। मनुस्मृति के अनुसार –

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥[३०]

श्रेष्ठ अतिथि को श्रेष्ठ आसन, श्रेष्ठ विश्राम स्थान, श्रेष्ठ शय्या एवं श्रेष्ठ उपासना अर्पित करनी चाहिये और ऐसे अतिथि के विदा होने पर उसे दूर तक छोड़ने जाना चाहिये।

---

[२८] विष्णु ३.११.५८, पृ.२३३।
[२९] मनुस्मृति ३.१०६, पृ.११७।
[३०] मनुस्मृति ३.१०७, पृ.११८।

मध्यम अतिथि के लिये यही सब आतिथ्य मध्यम परिमाण में और हीन अतिथि के लिये हीन परिमाण में अर्पित करना चाहिये।

मेधातिथि एवं कुल्लूक दोनों इस सन्दर्भ में स्पष्ट करते हैं कि श्रेष्ठ-सम-हीन का यह विवेक अनेक अतिथियों के युगपद् उपस्थित होने पर, सब के साथ-साथ आने की स्थिति में ही प्रासङ्गिक होता है। ऐसी स्थिति में सब को एक-सा आतिथ्य प्रस्तुत करना अतिथियों के लिये सङ्कोच का विषय बन सकता है। ऐसे अवसर पर आतिथेय गृहस्थ को अतिथियों के गुण-प्रतिष्ठा आदि का विचार कर सब को सम्यक् आतिथ्य देना चाहिये, ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि सब का शील बना रहे और किसी का तिरस्कार न होने पाये।

अतिथि को भोजन कराने के सम्यक् आचार का वर्णन करते हुए आगे मनु भोजन समाप्त होने के उपरान्त आने वाले अतिथि के लिये पुनः अन्नपाक करने के अनुशासन का प्रतिपादन करते हैं। हम मनु के इस अनुशासन की किञ्चित् चर्चा पहले कर चुके हैं। इस सन्दर्भ में स्मृति वाक्य है –

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत्॥[३१]

वैश्वदेव-होम आदि कर्मों से संस्कृत अन्न के समाप्त होने पर यदि घर में कोई अन्य अतिथि आ पधारता है तो उसके लिये पुनः अन्न पकाकर यथाशक्ति उसे सन्तुष्ट करना चाहिये। इस पुनः पकाये गये अन्न से देवों, भूतों आदि का भाग निकालना आवश्यक नहीं होता।

घर आये अनामन्त्रित एवं अपरिचित जन को भोजन कराने के आचार का मनु ऐसा विशद प्रतिपादन करते हैं। परन्तु घर आने वाले अतिथियों के लिये भी कुछ आचार तो होता ही है। स्मृति में किञ्चित् पहले आये दो श्लोकों में मनु इस सन्दर्भ में यह अनुशासन नियत करते हैं कि गृहस्थाश्रम में स्थित किसी को अन्य गृहस्थों के घर भोजन ग्रहण करने का अभ्यस्त नहीं होना चाहिये। अन्य घरों में खाने का आदी गृहस्थ अपने तप एवं अध्ययन का सब फल गँवाकर पशुवत् योनि को प्राप्त होता है। स्मृति के इन दो श्लोकों को हम यहाँ उद्धृत नहीं कर रहे। आतिथेय के अनुशासन का प्रतिपादन करने के पश्चात् मनु पुनः अतिथि के अनुशासन की चर्चा करते हैं, और इस सन्दर्भ में उनका आदेश है –

[३१] मनुस्मृति ३.१०८, पृ.११९।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥[३२]

भोजन पाने के लिये विप्र को अपने कुल-गोत्र आदि की चर्चा करते हुए नहीं घूमना चाहिये। जो भोजनप्राप्ति के लिये अपने कुल-गोत्र का गुणगान करते हैं, वे लोग मतिमानों में 'वान्ताशी' की संज्ञा से जाने जाते हैं। वे भ्रष्ट अन्न के भोक्ता माने गये हैं।

महाभारत में मनु के इस अनुशासन के प्रतिवर्ती अनुशासन का वर्णन भी हुआ है। मनु का आदेश है कि अतिथि को अपने कुल-गोत्र का आख्यान नहीं करना चाहिये और महाभारत के वैष्णवधर्म पर्व में श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को बताते हैं कि आतिथेय गृहस्थ को अतिथि के गोत्र-चरण अथवा अधीत के प्रति जिज्ञासा नहीं करनी चाहिये। श्रीकृष्ण का आदेश है – न पृच्छेद् गोत्रचरणं नाधीतं वा कदाचन।[३३] श्रीकृष्ण के इस आदेश को हम एकदा पहले भी सुन चुके हैं, और उनका यह अनुशासन अतिथि के लिये प्रतिपादित मनु के उपरोक्त अनुशासन का पूरक ही है।

ब्राह्मणेतर अतिथि

अतिथिपूजन के अनुशासन के प्रसङ्ग में मनुस्मृति में यहाँ तक अतिथि के वर्ण के विषय का सीधा उल्लेख नहीं आता, चाहे विभिन्न स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण गृहस्थ के घर में मनु ब्राह्मण आगन्तुक को ही अतिथि मान रहे हैं। अब मनु अतिथि के वर्ण सम्बन्धी अपने सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए कहते हैं –

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥[३४]

ब्राह्मण गृहस्थ के घर आया क्षत्रिय अतिथि नहीं कहलाता और न ही ब्राह्मण के घर आये वैश्य अथवा शूद्र ही अतिथि कहे जाते हैं। इसी प्रकार घर आये मित्र, जाति-बन्धु एवं सम्बन्धी और गुरु को भी अतिथि नहीं कहा जाता।

---

[३२] मनुस्मृति ३.१०९, पृ.१२०।
[३३] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३५५।
[३४] मनुस्मृति ३.११०, पृ.१२०।

मित्र, गुरु, सम्बन्धी अथवा अन्य परिचित तो अतिथि नहीं हुआ करते, यह मनु पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। परन्तु ब्राह्मण गृहस्थ के घर में इतर वर्ण के किसी आगन्तुक के अतिथि न होने का सिद्धान्त पञ्चमहायज्ञ की मूल भावना के अनुकूल नहीं दिखता। पञ्चमहायज्ञ के कर्म का तो सार ही सृष्टि के समस्त जीवों के निर्वाह के प्रति गृहस्थ के दायित्व को समझने और निभाने में है। ब्राह्मणेतर आगन्तुक को सब के निर्वाह एवं भरण-पोषण के इस दायित्व से बाहर कैसे रखा जा सकता है?

मनु भी ब्राह्मण गृहस्थ को ब्राह्मणेतर आगन्तुक के लिये आश्रय एवं भोजन अर्पण न करने की छूट तो नहीं देते। ब्राह्मणेतर का अतिथि न होना तो मात्र परिभाषा का विषय प्रतीत होता है। इस परिभाषा को प्रतिपादित करने के तुरन्त पश्चात् मनु समस्त वर्णों के अतिथियों और घर आये सखा-सम्बन्धियों का भी विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार करने एवं उन सब को समुचित क्रम से भोजन करवाने का विधान करते हैं। इस सन्दर्भ में मनु का आदेश है –

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्।
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत्।
वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन्।
इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान्।
प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥[३५]

यदि ब्राह्मण गृहस्थ के घर में क्षत्रिय अतिथिधर्म का आश्रय लेकर आता है तो विप्र अतिथियों को भोजन करवाने के उपरान्त उसे भी यथेष्ट भोजन करवाया जाये। इसी प्रकार वैश्य अथवा शूद्र के अतिथिधर्म के अनुरूप ब्राह्मण कुटुम्ब के घर आने पर उसे भी घर के भृत्यों के साथ उदारतापूर्वक भोजन करवाया जाये।

सखा आदि के प्रीतिपूर्वक घर आने पर पत्नी के साथ स्वयं गृहस्थ उसे प्रयत्नपूर्वक सुसंस्कृत अन्न परोसे।

मेधातिथि मनु के इस अनुशासन पर टीका करते हुए कहते हैं कि अन्य ग्राम से आकर भोजन काल पर उपस्थित होने वाला प्रत्येक ऐसा यात्री जिसके पास पाथेय शेष न बचा हो, अतिथि ही होता है। स्मृतिवाक्य में अतिथिधर्म का आश्रय लेकर आने का जो उल्लेख हुआ है उसका

[३५] मनुस्मृति ३.१११-११३, पृ.१२१-३।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

अर्थ यही है– तत्रातिथेर्धर्मः क्षीणपथ्योदनत्वं परग्रामवासो भोजनकालोपस्थानम्।[३६] इस प्रकार आने वाले सभी आगन्तुकों को विधिपूर्वक भोजन करवाना चाहिये।

स्मृति में यह भी कहा गया है कि क्षत्रिय को विप्र अतिथि के पश्चात् और वैश्य एवं शूद्र को भृत्यों के साथ भोजन करवाना चाहिये। इस पर टीका करते हुए मेधातिथि कहते हैं कि भृत्यों को अतिथियों के उपरान्त परन्तु गृहस्थ दम्पती से पूर्व भोजन करवाया जाता है। अतः वैश्य एवं शूद्र अतिथियों को भृत्यों के साथ भोजन करवाने का अर्थ यही है कि वे अन्य अतिथियों के पश्चात् परन्तु गृहस्थ दम्पती से पूर्व भोजन पाने के पात्र हैं। मेधातिथि इस प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करते हैं कि 'सह भृत्यैस्तौ' वाक्य से स्मृति में वैश्य एवं शूद्र अतिथियों के लिये उपयुक्त भोजनकाल मात्र का निर्देश किया गया है – सहशब्द एककालतामात्रलक्षणार्थः। यहाँ वैश्य अथवा शूद्र अतिथि को दिये जाने वाले सम्मान-सत्कार की चर्चा नहीं हो रही। सम्मान-सत्कार तो सभी अतिथियों का करना ही होता है और जैसा कि मेधातिथि इसी प्रसङ्ग में कहते हैं, घर आये सब लोगों का स्नेहसिक्त वाणी से स्वागत करने का विधान तो प्रत्येक परिस्थिति में बना ही रहता है।

मनुस्मृति की यह व्याख्या अतिथि के वर्ण के विषय में आर्ष साहित्य की भावना के अनुरूप ही है। शास्त्रों में अतिथि के वर्ण सम्बन्धी प्रायः किसी प्रकार के विवेक का विधान नहीं किया जाता। अधिकतर शास्त्र ब्राह्मण अतिथि को निश्चय ही विशेष शुभ मानते हैं, परन्तु सब वर्णों के आगन्तुक अतिथि ही होते हैं और किसी भी अतिथि का भोजन के समय घर आना गृहस्थ के लिये माङ्गल्य का ही विषय होता है। पराशरस्मृति में इस विषय में अत्यन्त स्पष्टता से यह निर्देश दिया गया है कि वैश्वदेव के सम्पन्न होने के उपरान्त, पितृयज्ञ, देवयज्ञ एवं भूतयज्ञ की समाप्ति के पश्चात्, भोजनकाल उपस्थित होने पर जो भी घर में आता है वह अतिथि ही होता है, उसके सम्बन्ध में और किसी प्रकार का विवेचन नहीं किया जाता। स्मृति के शब्दों में –

> इष्टो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा।
> संप्राप्तो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥[३७]

> वैश्वदेवकर्म के सम्पन्न होने के उपरान्त घर में जो भी उपस्थित हो, वह अतिथि ही है। इस प्रकार भोजनकाल पर आने वाला मित्र हो या शत्रु एवं मूर्ख हो या पण्डित, वह अतिथि ही होता है और गृहस्थ के लिये वह स्वर्गप्राप्ति का साधन बनता है।

[३६] मनुस्मृति ३.१११ पर मेधातिथि भाष्य, पृ.१२१।
[३७] पराशर १.४०, पृ.३४९।

पराशरस्मृति को विशेषतः आज के युग में अनुकरणीय स्मृतिग्रन्थ माना जाता है। परन्तु पराशरस्मृति का अतिथि सम्बन्धी यह अनुशासन तो महाभारत के वैष्णवधर्म पर्व में श्रीकृष्ण के आदेश की पुनरावृत्ति ही है। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को अतिथि पूजन का उपदेश देते हुए वहाँ कहते हैं –

हितः प्रियो वा द्वेष्यो वा मूर्खः पण्डित एव वा।
प्राप्तो यो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥[३८]

श्रीकृष्ण इसी प्रसङ्ग में युधिष्ठिर को यह भी स्मरण कराते हैं कि जब कोई थका-माँदा अतिथि गृहस्थ के घर पर आता है तब उसके पीछे-पीछे सब देवता, पितर और अग्नि भी चले आते हैं, अतिथि का घर में सम्मान-सत्कार होने पर वे देव-पितर आदि भी सत्कृत होते हैं और अतिथि के निराश हो घर-द्वार से लौटने पर वे भी निराश हो गृहस्थ के घर से चले जाते हैं। इसलिये श्रीकृष्ण का आदेश है कि चण्डाल भी यदि अतिथि होकर घर आये तो गृहस्थ को उसका पूजन ही करना चाहिये –

चाण्डालोऽप्यतिथिः प्राप्तो देशकालेऽन्नकाङ्क्षया।
अभ्युद्गम्यो गृहस्थेन पूजनीयश्च सर्वदा ॥[३९]

अन्नप्राप्ति की आकाङ्क्षा लेकर उपयुक्त देश एवं काल में यदि चण्डाल भी अतिथि रूप में घर पर उपस्थित होता है तो गृहस्थ के लिये वह भी सर्वदा पूजनीय है। इस प्रकार आये चण्डाल अतिथि का भी विधिपूर्वक सम्मान-सत्कार करना गृहस्थ के लिये अनिर्वार्य है।

अग्नि, देवों एवं पितरों को अपने पीछे-पीछे लिये गृहस्थ के घर पर पधार रहे अतिथि की छवि महाभारत में अनेक स्थानों पर उभरती है, और चण्डाल अथवा श्वपाक अतिथि का भी समुचित सम्मान-सत्कार करने का आदेश भी अनेक स्थानों पर दोहराया जाता है। वनपर्व में युधिष्ठिर को धर्म का उपदेश देते हुए ऋषि मार्कण्डेय तो यहाँ तक कहते हैं कि घर आया अतिथि किसी भी वर्ण का हो, गृहस्थ के लिये तो वह ब्राह्मण ही है –

अध्वनि क्षीणगात्रश्च पथि पांसुसमन्वितः।

---

[३८] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३३०।
[३९] महाभारत *आश्वमेधिक* ९२, पृ.६३२९।

पृच्छते ह्यन्नदातारं गृहमायाति चाशया।
तं पूजयाथ यत्नेन सोऽतिथिर्ब्राह्मणश्च सः ॥[४०]

अपनी यात्रा से थका-माँदा, क्षीणगात्र, धूलधूसरित कोई पथिक उदार अन्नदाता का पता पूछते-पूछते घर पर आ पधारे तो गृहस्थ को निश्चय ही यत्नपूर्वक उसकी पूजा-अर्चना करनी चाहिये। इस प्रकार घर आया पथिक अतिथि कहलाता है, वह गृहस्थ के लिये निश्चय ही ब्राह्मण ही है।

घर आये अपरिचित, श्रान्त एवं क्षुधित को तो सर्वदा सम्मानपूर्वक आश्रय एवं भोजन अर्पित करना ही होता है। यह गृहस्थ के लिये अनतिक्रमणीय अनुशासन है। इसका पालन धर्मभीरु गृहस्थ को सर्वदा सब परिस्थितियों में करना ही होता है, और ऐसा करते हुए आने वाले के वर्ण अथवा कुल-गोत्र आदि का विचार करने का अधिकारी वह कदापि नहीं होता। घर पर आने वाले प्रत्येक अर्थी को भोजन एवं आश्रय देने का यह अनुशासन ही मनुष्ययज्ञ है। मनु ने इस विषय में अत्यन्त सूक्ष्मता से क्रमबद्ध आचार का प्रतिपादन करते हुए मनुष्ययज्ञ के इसी अनुशासन का ही उपदेश किया है।

ब्राह्मणेतर अतिथियों एवं घर आये समस्त सखा-सम्बन्धियों को उपयुक्त क्रम में यथेष्ट भोजन करवाने के आदेश के साथ मनु द्वारा प्रतिपादित मनुष्ययज्ञ का विधान प्रायः समाप्त होता है। परन्तु यज्ञानुशासन सम्पन्न कर गृहस्थ दम्पती को अवशिष्ट भोजन ग्रहण करने का निर्देश देने से पूर्व वे अपनी सूक्ष्मदर्शी सदय शैली के अनुरूप कुटुम्ब के सदस्यों को खिलाने से पहले अतिथियों को तृप्त करने के नियम में एक अपवाद का विधान करते हैं। अतिथिपूजन के अनुशासन के समापन पर मनु कहते हैं –

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः।
अतिथिभ्योऽन्वगेवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥[४१]

पितृगृह में आयी हुई सधवा युवा बालिकाओं, कुमारियों, रोगियों एवं गर्भिणी स्त्रियों को अतिथियों को खिलाने से पूर्व ही भोजन करवाया जा सकता है। इस विषय में गृहस्थ को किसी प्रकार का कोई विचार करने की आवश्यकता नहीं होती।

---

[४०] महाभारत वन २००.६०-६१, पृ.१५२७।
[४१] मनुस्मृति ३.११४, पृ.१२४।

दम्पती

इस प्रकार अत्यन्त सावधानीपूर्वक अनुशासित एवं क्रमबद्ध विधान के अनुसार पितरों, देवों, भूतों, अतिथियों, भृत्यों एवं अभ्यागतों को भोजन अर्पित करने के उपरान्त ही गृहस्थ दम्पती स्वयं भोजन करने के अधिकारी होते हैं। भोजन के इस अनुशासन का पालन न करने वाला गृहस्थ राजा श्वेत से भी निकृष्टतर गति को प्राप्त होता है। राजा श्वेत ने धर्मसम्मत जीवन व्यतीत करते हुए और धर्मानुरूप राज्य चलाते हुए अथाह पुण्य अर्जित किये थे। सम्भवतः इसीलिये उत्तम लोकों में भी उनका अनुगमन करने वाली उनकी अस्वाभाविक क्षुधा की यदा-कदा किञ्चित् शान्ति के लिये उनका पार्थिव शरीर स्वच्छ एवं स्वस्थ बना रहा था। स्वयं खाने से पूर्व अन्यों की क्षुधा शान्त करने के अनुशासन का उल्लङ्घन करने वाले गृहस्थ के लिये तो राजा श्वेत को उपलब्ध किञ्चित् सान्त्वना की भी सम्भावना शेष नहीं रहती। मनु इस भीषण भावी के प्रति गृहस्थ को सचेत करते हुए कहते हैं –

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
स भुञानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥[४२]

जो मूढ गृहस्थ पितरों, देवों, भूतों, अतिथियों, भृत्यों एवं अभ्यागतों को तृप्त किये बिना स्वयं भोजन ग्रहण करता है, वह तो मानो अन्धा ही है। स्वयं खाते हुए वह यह नहीं देख पाता कि भविष्य में उसी का शरीर कुत्तों और गीधों द्वारा खाया जायेगा।

अन्य सब को भोजन करवाने से पहले अनुशासित गृहस्थ स्वयं भोजन नहीं किया करते। सब को भोजन करवाने के उपरान्त, अपनी पहुँच में आने वाले सब जीवों का समुचित पोषण करने के पश्चात् ही गृहस्थ दम्पती के लिये सम्यक् भोजनकाल उपस्थित होता है। गृहस्थ का तो धर्म ही अन्यों को तृप्त करने के उपरान्त बचे शेष अन्न का, पञ्चयज्ञ के अवशिष्ट का उपभोग करने में है। इस सन्दर्भ में मनु का आदेश है –

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥[४३]

विप्र अतिथियों से लेकर भृत्यों और घर के अन्य सदस्यों एवं जातिबन्धुओं आदि तक

[४२] मनुस्मृति ३.११५, पृ.१२४।
[४३] मनुस्मृति ३.११६, पृ.१२५।

Centre for Policy Studies www.cpsindia.org

सब को भोजन करवाने के उपरान्त शेष बचे अवशिष्ट अन्न का उपभोग ही गृहस्थ दम्पती के लिये उपयुक्त है।

मेधातिथि स्मृति के एक पूर्ववर्ती श्लोक के सन्दर्भ में ऊपर कहे गये 'अवशिष्टं तु दम्पती' के अनुशासन पर टीका करते हैं। मेधातिथि का कहना है कि इस अनुशासनवाक्य से स्पष्ट है कि गृहस्थ पति एवं पत्नी के लिये एक ही भोजनकाल का विधान है, पति-पत्नी के भोजन का समय पृथक्-पृथक् नहीं होता– यो भर्तुर्भोजनकालः स एव भार्याया अपि पृथक्तस्या भोजन-कालस्याभावात्।[४४]

द्रौपदी-सत्यभामा संवाद

मेधातिथि पति-पत्नी का एक ही भोजनकाल होने के अनुशासन के सन्दर्भ में महाभारत के वनपर्व में द्रौपदी एवं सत्यभामा में हुए संवाद का स्मरण भी करते हैं। मेधातिथि का कहना है कि उस प्रसङ्ग में तो द्रौपदी सब को खिलाने के पश्चात् स्वयं खाने को ही स्त्रीधर्म बताती हैं। वस्तुतः वहाँ द्रौपदी कहते हैं –

नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्तरि।
न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि ॥[४५]

जब तक मेरे पति और उनके सभी कर्मकार भी खा नहीं चुकते तब तक मैं भोजन ग्रहण नहीं करती हूँ, जब तक वे सब स्नान नहीं कर लेते तब तक मैं स्नान नही करती हूँ और जब तक वे सोते नहीं तब तक मैं कभी सोती नहीं हूँ।

द्रौपदी इस प्रसङ्ग में सत्यभामा को इन्द्रप्रस्थ में बिताये दिनों की अपनी दिनचर्या के विषय में और भी बहुत कुछ बताती हैं। द्रौपदी एवं सत्यभामा का यह संवाद द्रौपदी के असाधारण व्यक्तित्व का सशक्त उदाहरण है। द्रौपदी ने तो पाण्डव गृह को चलाने का सारा बोझ अकेले अपने ही कन्धों पर उठा रखा है। जैसा कि वे स्वयं सत्यभामा को बतलाती हैं, द्रौपदी अकेली ही पाण्डव गृह के सब कार्यों का सञ्चालन करती हैं और इस प्रकार युधिष्ठिर समेत पाँचों पाण्डवों को अपनी-अपनी रुचि का अनुसरण करने के लिये मुक्त कर देती हैं। वे स्वयं ही पाण्डवों की आय और व्यय का लेखा-जोखा रखती हैं, वही गृह से सम्बन्धित सब कर्मकारों का काम

[४४] मनुस्मृति ३.११३ पर मेधातिथि भाष्य, पृ.१२३।
[४५] महाभारत *वन* २३३.२४, पृ.१६२०।

देखती हैं और उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध करती हैं, वही पाण्डव कुटुम्ब की ओर से पञ्चमहायज्ञ का सम्पादन करती हैं। और यह सब करते हुए वे सर्वदा सचेत रहती हैं कि उनके किसी कार्य से पाण्डवों की इच्छा-अनिच्छा का कदापि अतिक्रमण न होने पाये। अपने इन सारे दायित्वों का वर्णन करते हुए द्रौपदी सत्यभामा को बतलाती हैं –

ये च धर्माः कुटुम्बेषु श्वश्र्वा मे कथिताः पुरा।
भिक्षाबलिश्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु।
मान्यानां मानसत्कारा ये चान्ये विदिता मम।
तान् सर्वाननुवर्तेऽहं दिवारात्रमतन्द्रिता।
विनयान् नियमांश्चैव सदा सर्वात्मना श्रिता॥[४६]

मैं नित्य भिक्षा, बलि एवं श्राद्ध का सम्पादन करती हूँ और मैं ही विभिन्न पर्वों के समय स्थालीपाक यज्ञ सम्पन्न करती हूँ। मैं ही माननीय जनों का सम्मान-सत्कार करती हूँ। कुटुम्बों में प्रचलित जिन धर्मों को मैंने पूर्व में अपनी सास से सुन रखा है और अन्य भी जिन धर्मों को मैं स्वयं जानती हूँ, उन सब का मैं आलस्य छोड़कर दिन-रात पालन करती हूँ। मैं सदा अपने-आप को यम-नियम में स्थित रखती हूँ, सर्वदा शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि एवं आत्मनियन्त्रण के लिये आवश्यक नियमों का यथाशक्ति पालन करती रहती हूँ।

अहं पतीन् नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये।
नापि श्वश्रूं परिवदे सर्वदा परियन्त्रिता॥[४७]

पति जाग रहे हों तो मैं कभी सोती नहीं और जब तक वे भोजन ग्रहण न कर लें तब तक मैं कभी खाती नहीं। पतियों की इच्छा के विरुद्ध मैं कभी कोई साज-शृङ्गार नहीं करती। मैं कभी अपनी सास की निन्दा नहीं करती। अपने आप को मैं सदा अपने नियन्त्रण में ही रखती हूँ।

युधिष्ठिर जब इन्द्रप्रस्थ में राज्य करते थे उस समय के अपने गृहस्थ जीवन का वर्णन करते हुए द्रौपदी आगे कहती हैं –

[४६] महाभारत *वन* २३३.३३-३५, पृ.१६२१।
[४७] महाभारत *वन* २३३.३८, पृ.१६२१।

शतं दासीसहस्राणि कुन्तीपुत्रस्य धीमतः।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत।
शतमश्वसहस्राणि दशनागायुतानि च।
युधिष्ठिरस्यानुयात्रमिन्द्रप्रस्थनिवासिनः।
एतदासीत् तदा राज्ञो यन्महीं पर्यपालयत्।
येषां संख्याविधिं चैव प्रदिशामि शृणोमि च।
अन्तःपुराणां सर्वेषां भृत्यानां चैव सर्वशः।
आगोपालविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम्।
सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च।
एकाहं वेद्मि कल्याणि पाण्डवानां यशस्विनि।
मयि सर्वं समासज्य कुटुम्बं भरतर्षभाः।
उपासनरताः सर्वे घटयन्ति वरानने॥[४८]

कुन्ती के बुद्धिमान् पुत्र युधिष्ठिर की शतसहस्र दासियाँ हाथों में भोजन के पात्र लिये दिन-रात अतिथियों को खिलाने में तत्पर रहती थीं। जब इन्द्रप्रस्थवासी राजा युधिष्ठिर यात्रा पर निकलते थे तो शतसहस्र हाथी और शतसहस्र अश्व उनका अनुसरण करते थे। उन दिनों जब युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ में रहकर पृथिवी का परिपालन किया करते थे, तब ऐसा उनका वैभव हुआ करता था। और तब मैं ही उन असंख्यात दासियों, अश्वों एवं हाथियों आदि की गणना करती थी। मैं ही उनके लिये आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध करती थी और मैं ही उनकी समस्याएँ सुनती थी।

अन्तःपुर के समस्त वासियों, पाण्डव गृह के सब भृत्यों और गोपालों एवं गडरियों से लेकर समस्त कर्मकारों के समस्त कृत-अकृत की जानकारी मुझे ही रहती थी। मैं ही उनके कार्य की देखभाल करती थी।

यशस्विनि सत्यभामे! कल्याणि! राजा युधिष्ठिर समेत सब पाण्डव बन्धुओं के समस्त आय-व्यय की जानकारी अकेले मुझे ही हुआ करती थी। वरानने! भरतवंश के ऋषभ पाण्डवों ने गृहस्थ का सारा दायित्व अकेले मुझ पर ही छोड़ रखा था। इस प्रकार बोझ-

[४८] महाभारत वन २३३.४९-५४, पृ.१६२२।

मुक्त हो वे उपासना में रत रहते थे और अपनी उपासना के अनुरूप कर्मों का ही निर्वाह किया करते थे।

द्रौपदी की दिनचर्या एवं दायित्व के इस विशद वर्णन से स्पष्ट है कि वे पाण्डव कुटुम्ब के प्रमुख की भूमिका निभा रही थीं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि वे अन्य सब को भोजन करवाने के उपरान्त ही स्वयं अन्न ग्रहण करती थीं। भोजन सम्बन्धी भारतीय अनुशासन का तो सार ही यह है कि जिस किसी पर अन्यों की देख-भाल एवं भरण-पोषण का दायित्व होता है, वह अपने पर निर्भर अन्य सबके भोजन करने उपरान्त ही भोजन करता है। सामान्यतः अन्य जीवों एवं मनुष्यों का भरण-पोषण करने के गृहस्थ के सहज दायित्व को गृहस्थ दम्पती, गृहस्थ पति और पत्नी दोनों इकट्ठे ही वहन करते हैं। इसीलिये जैसा कि मेधातिथि कहते हैं, उन दोनों का भोजनकाल एक ही होता है। वे दोनों पञ्चमहायज्ञ को विधिपूर्वक सम्पन्न कर और इस प्रकार सब का अंश निकाल एवं सब को तृप्त कर कृतकर्मा हो भोजन के लिये बैठते हैं।

विघसाशी भवेन्नित्यम्

मनु गृहस्थ के भोजन सम्बन्धी सूक्ष्मता से क्रमबद्ध एवं विस्तृत इस विधान का समापन करते हुए पुनः इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि अनुशासित गृहस्थ अन्यों को सन्तुष्ट करने के उपरान्त बचे शेष अन्न का ही उपभोग किया करते हैं। गृहस्थ के घर में केवल अपने लिये ही अन्न का पाक नहीं किया जाता, वहाँ तो गृहस्थ की पोषणवृत्ति के आश्रय में आने वाले सृष्टि के समस्त भावों, समस्त जीवों एवं समस्त मनुष्यों के लिये अन्न पकता है। गृहस्थ दम्पती उन सब का अंश निकालकर एवं सब को तृप्त करके ही स्वयं भोजन करते हैं। इस प्रकार पञ्चमहायज्ञ से शेष बचे अन्न को ग्रहण करना ही गृहस्थ दम्पती के लिये धर्मसम्मत भोजन होता है। अन्यों को सन्तुष्ट किये बिना स्वयं भोजन करने वाले गृहस्थ तो केवल पापभक्षण ही किया करते हैं। जैसा कि मनु कहते हैं –

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत्।
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥[४९]

[४९] मनुस्मृति ३.११७-११८, पृ.१२६-७।

देवों, ऋषियों, पितरों, भूतों एवं मनुष्यों को विधिपूर्वक अन्न समर्पण करने के पश्चात् बचे शेष अन्न का ही उपभोग करना गृहस्थ के लिये उपयुक्त है।

जो गृहस्थ केवल अपने लिये ही भोजन पकाते हैं वे भोजन का नहीं पाप का ही उपभोग करते हैं, क्योंकि सज्जनों के लिये तो पञ्चमहायज्ञ के अवशिष्ट अन्न का भोग करने का ही विधान है।

मनुस्मृति में पञ्चमहायज्ञ का वर्णन यहीं समाप्त नहीं होता। पञ्चमहायज्ञ के विभिन्न पक्षों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए और विभिन्न परिस्थतियों में समुचित व्यवहार सम्बन्धी विस्तृत निर्देश देते हुए मनु इसी प्रसङ्ग में प्रायः दो सौ श्लोक और कहते हैं। इतने वृहद् विधान एवं विवेचन के उपरान्त ही मनु अनुशासित गृहस्थ को अपना आशीर्वाद देने के लिये उद्यत होते हैं, और तब वे कहते हैं –

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम्॥[५०]

तुम नित्य विघस एवं अमृत का उपभोग करने वाले बनो। अन्यों को खिलाने के पश्चात् बचा शेष अन्न ही विघस होता है और यज्ञ का अवशिष्ट अन्न निश्चय ही अमृत होता है।

[५०] मनुस्मृति ३.२८५, पृ.२८०।